मार्च १९९४ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

आओ धर्म को समझें!

२६०० वर्ष पूर्व के भारत की जनभाषा पालि में जिसे 'धम्म' कहा गया, आज उसे 'धर्म' कहते हैं। उन दिनों के भारत में इस शब्द का अर्थ बहुत व्यापक था। समय बीतते-बीतते यह अर्थ संकुचित और रूढ़ होता चला गया। आज के भारत में तो बहुत अंशों में इसके अर्थ का अनर्थ ही हो गया।

उन दिनों धर्म कहते थे मन के विषय को। पांचों इंद्रियों के अपने अलग-अलग विषय हैं। आंख का विषय है रूप, कान का शब्द, नाक का गंध, काया यानि त्वचा का स्पर्शव्य पदार्थ। इन पांचों के अतिरिक्त एक और इंद्रिय है जो इनकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, अधिक बलवान है और वह है मन की इंद्रिय। उन दिनों की भाषा में मन को चित्त भी कहते थे। चित्त-इंद्रिय के विषय को चैतसिक यानि चित्त-वृत्तियां कहते थे और चित्त-वृत्तियों को ही धर्म कहते थे। **धारेति'ति धम्मो** –धारण करे सो धर्म। चित्त जो धारण करे वह धर्म। चित्त विभिन्न चित्त-वृत्तियां धारण करता है। अतः सभी चित्तवृत्तियां धर्म कहलायीं।

चित्त-वृत्तियां बावन प्रकार की होती हैं। इनमें से कुछ अच्छी हैं, कुछ बुरी; कुछ हितकारिणी हैं, कुछ अहितकारिणी। इसलिए उन दिनों की भाषा में इस प्रकार का कथन प्रचलित था – जैसे कि कुशल-धर्म, अकुशल-धर्म। कुशल-धर्म माने वह चित्त-वृत्ति जिसे धारण करने में हमारा कुशल-मंगल समाया हुआ है और अकुशल-धर्म माने वह जिसे धारण करने में हमारा अकुशल-अमंगल समाया हुआ है। इसी भाव में ऐसे शब्द प्रचलित थे, जैसे –पुण्य-धर्म, पाप-धर्म। पुण्य-धर्म वह जिसके धारण करने से चित्त पुण्यमय यानि पुनीत होता है और पाप-धर्म वह जिसके धारण करने से चित्त पापमय यानि मैला होता है। ऐसे ही कहा जाता था – शुक्ल-धर्म, कृष्ण-धर्म। शुक्ल-धर्म वह जिसे धारण करने से चित्त शुक्ल, स्वच्छ होता है और कृष्ण-धर्म वह जिसे धारण करने से चित्त कलुषित, मैला होता है। इसी प्रकार कहा जाता था –आर्य-धर्म, अनार्य-धर्म। आर्य-धर्म वह जिसे धारण करने से कोई भी व्यक्ति आर्य यानि शुभेच्छ सज्जन बन जाता है और अनार्य-धर्म वह जिसे धारण करने से कोई भी व्यक्ति अनार्य यानि मलेच्छ दुर्जन बन जाता है।

उपरोक्त व्याख्या को स्पष्ट करती हुई धर्म की एक और परिभाषा भी प्रचलित थी। धर्म कहते थे गुण को, स्वभाव को, प्रकृति को। गुण, धर्म, स्वभाव, प्रकृति –ये उन दिनों के पर्यायवाची शब्द थे, समानार्थक शब्द थे। जिस चित्तवृत्ति का जो स्वभाव है, वही उसका धर्म कहलाया। कोप, क्रोध, द्वेष, दुर्भावना जैसी चित्तवृत्तियां अपने स्वभाववश चित्त को मैला कर देती हैं, तनाव से भर देती हैं, व्याकुल कर देती हैं, उसका अमंगल करती हैं, अकुशल करती हैं; इसीलिए पाप-धर्म, अकुशल-धर्म, कृष्ण-धर्म, अनार्य-धर्म कहलायीं। यों ही मैत्री, करुणा, स्नेह, सद्भावना जैसी चित्त-वृत्तियां अपने स्वभाववश चित्त को पुनीत कर देती हैं, उसे सुख-शांति और सौमनस्यता से भर देती हैं, उसका कुशल करती हैं, मंगल करती हैं इसीलिए पुण्य-धर्म, कुशल-धर्म, शुक्ल-धर्म, आर्य-धर्म कहलायीं।

यों हम देखते हैं कि उन दिनों अच्छी-बुरी, सभी प्रकार की चित्त-वृत्तियों के लिए धर्म शब्द का प्रयोग होता था, क्योंकि सभी चित्त-वृत्तियां चित्त के द्वारा धारण की जाती हैं। धारण करे सो धर्म –इस व्याख्या के अनुसार दोनों ही धर्म। परंतु आगे चल कर उन्हीं चित्त-वृत्तियों को धारण करने को धर्म कहा जाने लगा जो कि सुखदा हैं, शांतिदा हैं और मंगलकारिणी हैं। उन्हें धारण करना चाहिए। यही करणीय है, यही कर्तव्य है। अतः धर्म का एक अर्थ प्रचलित हुआ –कर्तव्य। यह हमारा धर्म है यानि हमारा कर्तव्य है। और जो अकरणीय है, अकर्तव्य है वह कहलाया अधर्म। धर्म और अधर्म की यह कल्याणी व्याख्या किसी दार्शनिक अंधविश्वास के आधार पर स्थापित नहीं हुई, किसी सांप्रदायिक मान्यता के आधार पर स्थापित नहीं हुई; बल्कि अनुभवजन्य शुद्ध वैज्ञानिक आधार पर स्थापित हुई थी।

निकम्मी, निरर्थक और झगड़े-फसाद फैलाने वाली कल्पनाजन्य दार्शनिक मान्यताओं को एक ओर रख कर शरीर और चित्त के पारस्परिक संबंधों का सुवैज्ञानिक ढंग से अनुसंधान करने वाला एक तटस्थ विपश्यी साधक जब स्वानुभूति के स्तर पर सच्चाई का निरीक्षण करता है, तो देखता है कि वह जब-जब दूषित वृत्तियां धारण करता है तब-तब स्वयं तो तत्काल संतापित हो ही जाता है, आस-पास के वातावरण में भी अपने तनाव की तरंगें भर देता है। उस समय उस वातावरण के संपर्क में जो व्यक्ति आता है, वह बेचैनी महसूस करने लगता है। वह इस सच्चाई को अनुभूति के स्तर पर जानने लगता है कि हम अपने विकारजन्य मनोसंताप से दूसरों के मन को भी संतापित करते हैं। दूषित चित्तवृत्तियों को धारण कर स्वयं भी व्याकुल होते हैं, औरों को भी व्याकुल करते हैं। अतः अनुभव से स्पष्ट हुआ कि यह अकरणीय है, यानि अधर्म है।

साधक यह भी देखता है कि जिस समय मन विकारों से विकृत होता है उस समय वाणी और शरीर से जो काम किया जाता है, वह दूषित ही होता है, अकुशलजनक ही होता है –अपने लिए भी और समाज के लिए भी। अतः वाणी और शरीर के सभी दुष्कर्म अकरणीय हैं, अधर्म हैं।

साधक यह भी देखता है कि चित्त जब-जब विकार^विमुक्त रहता है तब-तब दुःखविमुक्त रहता है। जब-जब विकार-विमुक्त चित्त मैत्री-करुणा सद्भावना जैसे गुणों से भर जाता है, तब-तब वह स्वयं जो सुख-शांति महसूस करता है वह आस-पास के वातावरण में भी समाने लगती है। जो उस सुख-शांतिमय वातावरण के संपर्क में आता है वह भी सुख-शांति महसूस करने लगता है। अतः अनुभव से यह स्पष्ट हुआ कि केवल अपनी ही नहीं बल्कि सब की सुख-शांति के लिए चित्त को विकारों से विमुक्त रखना और उसे सद्गुणों से भर लेना ही करणीय है, यही धर्म है।

वह यह भी देखता है कि चित्त जब विकार-विमुक्त होता है और सद्गुणों से भर उठता है तब शरीर और वाणी के जो भी कर्म

करता है, वे सत्कर्म ही होते हैं जो कि अपने लिए भी कल्याणकारी होते हैं, औरों के लिए भी कल्याणकारी।अतः वाणी और शरीर के सभी सत्कर्म करणीय हैं, कर्तव्य हैं यानि धर्म हैं। इस प्रकार करणीय को धर्म कहा जाने लगा, अकरणीय को अधर्म। या यों कहें कि धर्म कर्तव्य है और अधर्म अकर्तव्य।

स्वानुभूति के आधार पर जाने गए तथ्यों के आधार पर ही धर्म की यह सही व्याख्या की गयी। पुरातन भारत में ऋत को याने निसर्ग के नियमों को धर्म कहते थे; प्रकृति को, स्वभाव को धर्म कहते थे। जो अपना स्वभाव याने अपना लक्षण धारण करे सो धर्म। उसे ही **धम्मनियामता** यानि धर्म-नियम और **धम्मता** यानि धर्मता कहते थे। धर्म शब्द के इस सही अर्थ की गूंज आज भी कहीं-कहीं सुनने को मिल जाती है। जब हम कहते हैं कि अग्नि का धर्म या स्वभाव है जलना और जलाना, बर्फ का धर्म है शीतल होना और शीतल करना, सूरज का धर्म है प्रकाश और उष्णता प्रजनन करना, चंद्रमा का धर्म है प्रकाश और शीतलता प्रजनन करना।ऐसा न हो तो अग्नि अग्नि नहीं, बर्फ बर्फ नहीं, सूरज सूरज नहीं, चंद्रमा चंद्रमा नहीं। क्योंकि यही उनका नैसर्गिक धर्म है, यही इसका स्वभाव है जिसे वे धारण करते हैं। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि संसार के सभी प्राणी, सभी वस्तुएं जराधर्मा हैं, मरणधर्मा हैं; तो इसका अर्थ है कि यही उनका स्वभाव है, उनकी प्रकृति है जिन्हें वे धारण करते हैं। इसी प्रकार कोप, क्रोध, द्वेष, दुर्भावना आदि मन के दुर्गुणों का धर्म-स्वभाव है व्याकुल होना, व्याकुल करना। मैत्री, करुणा, स्नेह-सद्भावना आदि मन के सद्गुणों का स्वभाव है –सुखी शांत होना, सुखी शांत करना। ऐसा न हो तो दुर्गुण दुर्गुण नहीं, सद्गुण सद्गुण नहीं। मन के दुर्गुणों और सद्गुणों का यह नैसर्गिक स्वभाव ही धर्म है। दुर्गुण धारण कर दुखी हो जाना, सद्गुण धारण कर सुखी हो जाना यह धर्म-नियम किसी एक जाति विशेष पर अथवा वर्ण, वर्ग, समाज, संप्रदाय विशेष पर ही लागू नहीं होता है। इसीलिए कहा गया कि धर्म सार्वजनीन है। हिंदू हो या बौद्ध, ब्राह्मण हो या शूद्र, भारतीय हो या अमरीकी धर्म के नियम सब पर एक जैसे लागू होते हैं। धर्म सार्वदेशिक है। भारत हो या जापान, रूस हो या अमेरिका सभी स्थानों पर धर्म के नियम एक जैसे लागू होते हैं। धर्म सार्वकालिक है। भूतकाल में भी यही धर्म-नियम थे, आज भी यही हैं और भविष्य में भी यही रहेंगे। संसार में और सब कुछ बदलते रहता है, पर यह नैसर्गिक धर्म-नियम नहीं बदलते। इसीलिए धर्म को सनातन कहा गया। शास्वत नैसर्गिक नियम ही सनातन धर्म कहे गये।

आग से आग बुझती नहीं, बढ़ती है। यह सनातन धर्म है। बैर से बैर मिटता नहीं, बढ़ता है। यह सनातन धर्म है। आग पानी से बुझती है। यह सनातन धर्म है। बैर मैत्री से मिटता है। यह सनातन धर्म है। मनोविकार से व्याकुलता बढ़ती है, यह सनातन धर्म है। विकार-विहीनता से व्याकुलता मिटती है, यह सनातन धर्म है, आदि, आदि।

इसीलिए कहा गया **एस धम्मो सनन्तनो** –यही सनातन धर्म है। प्रकृति के सनातन नियमों पर आधारित हो तो ही सनातन धर्म है। सनातन धर्म की इस नैसर्गिक व्याख्या को भुला कर हम इस भ्रम में पड़ गए कि पौराणिक मान्यताओं को मानना और पौराणिक कर्मकांडों का संपादन करना सनातन धर्म है और इसके विपरीत वैदिक मान्यताओं को मानना और वैदिक कर्मकांडों का संपादन करना आर्यसमाजी धर्म है। इसी प्रकार धर्म की सही सार्वजनीन व्याख्या को भुला कर हमने इसे संप्रदाय का पर्यायवाची शब्द बना दिया और हिंदू-धर्म, बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, सिक्ख-धर्म, मुस्लिम-धर्म, ईसाई-धर्म आदि के रूप में इसका भ्रामक प्रयोग करने लगे। धर्म और सनातन धर्म का यह अर्वाचीन प्रचलित प्रयोग कितना दूषित है, कितना भ्रांतिजनक है और परिणामतः कितना हानिकारक हो गया है! इसे समझें और धर्म का सही सार्थक उपयोग कर अपना भी मंगल साध लें तथा औरों के मंगल में भी सहायक बन जांय। यही करणीय है। यही कल्याणप्रद है।

कल्याण मित्र,
स. ना. गो.

दीर्घ शिविर के साधकों के उद्गार

अमेरिका का बैन हालैंड लिखता है, "कृपया मुझे आभार प्रकट करने की अनुज्ञा प्रदान करें, इसी शिविर के लिये नहीं अपितु सभी मार्गदर्शन के लिये जो आपने मुझे प्रदान किया है। मैं हृदय से आपको धन्यवाद करता हूं। जैसा आपको विदित है, मुझे आनापान के बीच कुछ कठिनाई रही, कुछ अंश तक निष्कपट रहने की एक खरी इच्छा मुझमें उठी। मेरे विचार से इसमें अपने विषय में एक सुंदर छाप पैदा करने की भावना भी रही होगी। कारण कुछ भी हो परिणाम में अहं को अच्छा धक्का लगा। कदाचित मैं अन्य लोगों के प्रति अब धैर्य से काम करूंगा।फिर एक शंका भी थी। मैंने सीखा है कि कैसे कोई छोटी सी शील सम्बन्धी भूल मन में शंका के लिये स्थान पैदा कर देती है। विपश्यना के पश्चात मैं अधिक गंभीरता से काम करने में समर्थ हो गया। पिछले मेरे अभ्यास से मुझे शक्ति मिली, यह पाकर प्रसन्नता हुई। विगत की अपेक्षा अब मैं सूक्ष्म संवेदनाओं के प्रति समता रखने में अधिक समर्थ था। जैसे मैंने अधिक गंभीरता से काम किया, दुःख की संवेदनाएं भी प्रकट होने लगीं तथा उनके प्रति भी समता रखनी ही थी। तूफान आए और चले गए। मैं काम करता रहा। मुझे याद आया कि कहा जाता है अपना युद्ध स्वयं लड़ना होता है, लेकिन यहां धम्मगिरि पर तो वास्तव में इतनी सहायता उपलब्ध है। ऐसा सुन्दर वातावरण और शुद्ध सेवा। यह सचमुच एक दुर्लभ अवसर है। धर्म का विधान अद्भुत है, यह सबसे बड़ी अनुभूति थी। पुनः धन्यवाद! आप और आपके स्वजन वास्तव में सुखी हों!"